THE ECONOMIC TIMES

Date:19-07-21

EU, GHG, WTO, CBAM, Bam-Bam

ET Editorial

The European Union's 'Fit for 55' package comprises about a dozen legislative proposals aimed at meeting its legally binding greenhouse gas (GHG) emissions reduction target of at least 55% over the 1990 level by 2030. In doing so, it will lay the ground for the radical transformation of the economy and society essential for achieving the goal of net zero GHG emissions by 2050. The Fit for 55 package deals with energy, land use, transport and taxation.

The EU accounts for 15% of global trade, about 16% of global GDP and about 9% of annual GHG emissions; therefore, these measures will have global impact. The July 14 package is the first batch of legislative proposals put forward by the European Commission. It deals with carbon dioxide standards for cars, changes in energy taxation to move away from subsidies for fossil fuels, renewable energy targets and expansion of the emissions trading system to include transport and buildings. It also includes the controversial carbon border adjustment mechanism (CBAM) that applies a levy on imports based on the carbon emissions associated with its production. A social climate fund would support households to make the transition. These proposals will now be debated with the 27 member states and in the European Parliament and laws passed by 2023.

While a change in EU policy affects other countries, particularly trading partners, CBAM is what will kindle most debate. Imports, initially in the cement, aluminium, iron and steel, fertiliser and electricity sectors, will bear a levy reflecting the carbon price that units in the EU would pay. The intent is to avoid the flight of industry to jurisdictions with lower emission norms and to give EU industry a level playing field will be political contentious.

THE HINDU

Date:19-07-21

Sensitive and precise

Trafficking needs a wholesome approach that is cognisant of the causative factors

Editorial

Undoubtedly, trafficking is a pernicious offence, one that societies and governments must have zero tolerance for, and yet, handling the offence of trafficking needs precision, not a sledgehammer. In its current form, the draft Trafficking in Persons (Prevention, Care and Rehabilitation) Bill, 2021 seems to be lacking in nuance, even if well intentioned, to stamp out exploitative trafficking. The Bill, which will shortly be introduced in Parliament, aims at preventing and countering trafficking in persons, particularly women and children, to provide for care, protection and rehabilitation to the victims, while respecting their rights, and creating a supportive legal, economic and social environment for them. This is the Bill's second iteration; the first was passed in the Lok Sabha, in 2018, but then meandered into nothingness as it was never introduced in the Upper House. Notably, the Bill has expanded the area under coverage to include offences taking place, not only within India but also outside it. It envisages the setting up of anti-trafficking committees at the State and national levels to implement the provisions, when passed. In the days the Bill was up in the public domain for comments, civil society activists and legal experts have criticised its various provisions, and submitted that an overzealous approach would blur the nuances and an understanding of the contributing factors, including vicious poverty, debt, lack of opportunity, and development schemes missing their mark.

Vociferous opposition has arisen over the key aspect of handing over investigation in trafficking crimes to the NIA both by those who believe that it would burden the already stretched unit further, and those arguing that this move would be an attack on federalism, by removing local enforcement agencies out of the picture. Another key criticism of the Bill has been its broad definitions of victims, smacking of refusal to consider consensual sexual activity for commerce. This would only land up criminalising sex work and victimisation of the exploited. Bringing pornography into the definition of sexual exploitation would not allow even for any adult consumption of non-exploitative, consensual material. Reporting of offences has been made mandatory with penalties for non-reporting, but those with an understanding of the tortuous processes, point to the fact that victims often do not want a complaint to be recorded. The mention of the death penalty for various forms of aggravated trafficking offences needs to be flagged too. The Government would do well to scan and incorporate the responses to its Bill in order to ensure that the fence does not eat the crop. While sexual exploitation and trafficking can be ghastly crimes invoking public horror, for the state to not employ a wholesome approach, cognisant of the causative factors, one that would be sensitive and precise, would be equally horrific.

दैनिक जागरण

Date:19-07-21

नक्सलियों का सफाया

संपादकीय

लंबे अंतराल के बाद झारखंड पुलिस ने नक्सलियों के विरुद्ध प्रभावी अभियान चलाकर दो दिनों के भीतर दो बड़े उग्रवादियों को मार गिराया । इससे पुलिस के साथ आम लोगों का भी मनोबल बढ़ा है। नक्सली झारखंड के लिए पिछले

कई दशकों से बड़ी समस्या रहे हैं । हाल के वर्षो में इन्हे मुख्यधारा में लाने के प्रयास भी होते रहे । इस बीच कई नक्सलियों ने आत्मसमर्पण किया तो कई मार गिराए गए। हाल के वर्षो मे प्रदेश में नक्सली कमजोर तो पड़े, लेकिन समय -समय पर सिर उठाकर सुरक्षाबलों को निशाना भी बनाते रहे। वहीं दहशत फैलाकर वह लेवी भी वसूलते रहे। पुलिस को नक्सलियों के खिलाफ अभियान निरंतर बनाए रखना चाहिए। झारखंड में नक्सलियों और सुरक्षाबलों के बीच अब तक सैकड़ों मुठभेड़ हो चुके हैं। पूर्व में कई बड़े नक्सली भी मारे गए, लेकिन इस समस्या का अंत नहीं हो पाया। सुदूर इलाकों में विकास योजनाओं को तेज गति देकर ग्रामीणों में और भी भरोसा जगाया जा सकता है, ताकि लोग नक्सलियों के बहकावे में न आएं। नक्सलियों को मुख्यधारा से जुड़ने के लिए सरकारी योजनाओं की जानकारी दी जा रही है। जो इसके बावजूद हिंसा का रास्ता छोड़ना नहीं चाहते, उनके खिलाफ सख्ती आवश्यक है। उन्हें संदेश भी दिया जा रहा है कि यदि विकास में बाधक बने तो पुलिस छोड़ेगी नहीं। पिछले दो दिनों में पुलिस ने जो किया, वह यही स्पष्ट संकेत दे रहा है। झारखंड के सुदूर इलाकों में स्थित पर्यटन स्थलों पर भी नक्सलियों के डर से लोग जाना नहीं चाहते। इससे पर्यटन उद्योग प्रभावित है। वहीं विकास कार्य भी बाधित हैं। नक्सली समस्या का समाधान होने से इससे राज्य का राजस्व बढ़ेगा और झारखंड विश्व के पर्यटन मानचित्र पर उभर सकेगा। नक्सलियों के अर्थतंत्र पर प्रहार करना भी आवश्यक है। हाल के वर्षो में संयुक्त प्रयास से आर्थिक तंत्र पर चोट किया गया है। इससे नक्सलियों को झटका लगा है। अब झारखंड की कमान नए डीजीपी के हाथ है। ऐसे में नक्सलियों के विरुद्ध कार्रवाई लोगों में भरोसा जगा रही है कि राज्य से एक दिन नक्सलियों का सफाया होगा। जहां पहले से दहशत थी, वहां शांति बहाल हो सकेगी।

Date:19-07-21

कानून की आवश्यकता पर भी हो विचार

हृदयनारायण दीक्षित, (लेखक उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष हैं)

भारतीय राष्ट्र राज्य संप्रभु सत्ता है। व्यक्ति की तरह राष्ट्र राज्य की भी अस्मिता है। राष्ट्र को भी आत्मरक्षा के अधिकार हैं। भारतीय दंड संहिता यानी आइपीसी की धारा-121, 121ए, 122, 123, 124 व 124ए में राजद्रोह से निपटने के प्रविधान हैं। इनमें से 124ए के दुरुपयोग और खात्मे पर बहस जारी है। इस कानून में उल्लेख है, 'जो कोई बोले गए, लिखे गए शब्दों या संकेतों या दृश्यरूपण द्वारा या अन्यथा भारत में विधि द्वारा स्थापित सरकार के प्रति घृणा या अवमान पैदा करेगा, या उसकी कोशिश करेगा। अप्रीति का प्रसार करेगा, प्रयत्न करेगा वह तीन वर्ष से लेकर आजीवन कारावास तक, जिसमें जुर्माना जोड़ा जा सकेगा या जुर्माने से दंडित किया जा सकेगा।' सर्वोच्च न्यायपीठ ने इस कानून के दुरुपयोग पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि 'सरकार ने कई पुराने कानून रद किए हैं। गांधी और तिलक के विरुद्ध भी इस कानून का दुरुपयोग हुआ है। क्या स्वतंत्रता के बाद भी इस कानून की जरूरत है?'कानून का दुरुपयोग बेशक गंभीर बात है, लेकिन कानून की आवश्यकता भी विचारणीय है। आवश्यकता से ही कानून का जन्म होता है। कानूनों में संशोधन और निरसन भी राष्ट्र की आवश्यकता के कारण ही होते हैं। कानून का मसौदा विधेयक पेश करते समय प्रस्तावित विधि के उद्देश्य और कारण बताए जाते हैं।

राजद्रोह कानून के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप दुरुपयोग का है। इसके लिए कानून का उपयोग करने वाला तंत्र जिम्मेदार है, कानून नहीं। अवैध हथियार रखना अपराध है। इसके लिए शस्त्र अधिनियम है। यह कानून समाज के लिए उपयोगी है,

लेकिन पुलिस इसी कानून में निर्दोषों को भी जेल भेजती है। क्या इसी आधार पर कानून समाप्त करना सही हो सकता है? यहां तमाम कानूनों का दुरुपयोग होता है, लेकिन मात्र दुरुपयोग के आधार पर ही कानून समाप्ति का कोई औचित्य नहीं है। दुरुपयोग रोकना बहुत जरूरी है। इसके लिए कानून प्रवर्तित करने वाले तंत्र के पेच कसने की जरूरत है। राजद्रोह संबंधी कानून के विरुद्ध दूसरा मुख्य आरोप विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक होना है। विचार अभिव्यक्ति संविधान का मौलिक अधिकार है, लेकिन यह निरपेक्ष और असीम नहीं है। इससे जुड़े अनुच्छेद 19 में विचार स्वातंत्र्य पर 'भारत की प्रभुता, अखंडता, सुरक्षा, लोक व्यवस्था और न्यायालय अवमान आदि के बंधन' हैं। यहां विचार अभिव्यक्ति के बहाने राष्ट्र की संप्रभुता अखंडता से खिलवाड़ की छूट नहीं है। ऐसा खिलवाड़ देशद्रोह की श्रेणी में क्यों नहीं आ सकता?

राजद्रोह कानून की संवैधानिकता का परीक्षण उचित है। वर्ष 1962 में सर्वोच्च न्यायपीठ ने केदारनाथ मामले में 124ए की संवैधानिकता का परीक्षण किया था और इसे संवैधानिक घोषित किया था। यह भी कहा था कि 'नागरिकों को सरकार की आलोचना करने का पूरा अधिकार है बशर्ते वे हिंसक विचार से दूर रहें।' भारत में सरकारों की आलोचना होती है। असहमति के अवसर हैं। वैचारिक टकराव भी हैं। मूलभूत प्रश्न है कि क्या राष्ट्रीय अखंडता और संप्रभुता पर भी आक्रमण करना सिर्फ सरकार की ही आलोचना है? भारतीय देश से भावात्मक लगाव रखते हैं। देश की धरती को भारत माता कहते हैं। वंदे मातरम् हमारा राष्ट्रगीत है। पं. नेहरू ने भी 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में देश की धरती और लोगों को भारत माता बताया है। भिन्न-भिन्न समूहों द्वारा भावनाएं आहत होने की चर्चा बहुधा चलती है। राष्ट्रीय अखंडता का अपमान देशद्रोह की श्रेणी में क्यों नहीं आ सकता? कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजद्रोह की चर्चा इन शब्दों में की है, 'यदि साम आदि उपायों से राजद्रोहियों को शांत न किया जा सके तो दंड का प्रयोग होना चाहिए।'

राजद्रोह राष्ट्र के अस्तित्व को चुनौती है। भारत में राजद्रोह की घटनाएं घटित होती रहती हैं। कभी करनी द्वारा और बहुधा कथनी द्वारा। राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में नारेबाजी हुई, 'भारत तेरे टुकड़े होंगे।' इस नारेबाजी को राजद्रोह नहीं तो क्या सुभाषित की श्रेणी में रखेंगे? दूसरी नारेबाजी और भी आग लगाऊ है, 'अफजल हम शर्मिंदा हैं। तेरे कातिल जिंदा हैं।' यह दोष सिद्ध भारत विरोधी राजद्रोही आतंकी का महिमामंडन है। क्या यह विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का खतरनाक दुरुपयोग नहीं है? इसे राजद्रोह की श्रेणी में क्यों नहीं रखा जा सकता? पाकिस्तानी झंडे लहराना राष्ट्रीय अखंडता व संप्रभुता पर सीधा हमला है। यह सरासर राजद्रोह है। माओवादी हिंसा राष्ट्र राज्य से युद्ध है। ऐसी घटनाएं विचार और मंसूबे देशद्रोह हैं। ये राजद्रोह की ही श्रेणी में आती हैं। आइपीसी की धारा 124ए में इनका विचारण संभव है। राष्ट्र राज्य की अस्मिता का विधिक संरक्षण जरूरी है। भारत में विधि का शासन है। यहां हर समस्या का समाधान विधि द्वारा ही होता है।

सक्रिय राष्ट्र विरोधी शक्तियों से निपटने के लिए कानून जरूरी हैं। ये ताकतें किसी न किसी रूप में अपने मंसूबे पूरे करने में लगी हैं। आतंकियों की हरसंभव सहायता यही ताकतें करती हैं। राष्ट्र की आंतरिक रक्षा के लिए 124ए की अपनी उपयोगिता है। इसके दुरुपयोग की चर्चा नई नहीं है। दुरुपयोग रोकने के लिए इसी कानून में कतिपय संशोधन संभव हैं। विधि प्रवर्तक तंत्र को भी दुरुस्त करना होगा। इस व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। न्यायालय की यह बात सही है कि इस कानून में जवाबदेही नहीं है। अदालत ने इस कानूनी प्रविधान की संवैधानिकता जांचने का निश्चय किया है। यह अच्छी बात है, पर संवैधानिकता के साथ इसकी उपयोगिता का निरीक्षण भी जरूरी है। दुनिया के सभी कानूनों का उद्देश्य उपयोगिता ही होता है। उपयोगिता समाप्ति के बाद कानून का कोई अर्थ नहीं रह जाता। तब उसकी समाप्ति ही उचित है।

न्यायमूर्ति रमना ने कहा है कि 'राजद्रोह कानून पर विचार अभिव्यक्ति के लिटमस टेस्ट से परीक्षण का समय आ गया है।' अटार्नी जनरल केके वेणुगोपाल ने तर्क दिया है कि दुरुपयोग रोकने के लिए, 'कुछ मार्गदर्शी रक्षोपाय जोड़कर कानून का सही लक्ष्य पाया जा सकता है।' उनके अनुसार इस कानून का सुनिश्चित उद्देश्य व प्रयोजन है। विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अनिवार्य है। यह खूबसूरत मौलिक अधिकार है, लेकिन राष्ट्रीय संप्रभुता अखंडता के तोड़कों के विरुद्ध विधिक कार्रवाई का कानून भी जरूरी है। राजद्रोह असाधारण प्रकृति का अपराध है। इसलिए कानून की उपयोगिता है। इस दृष्टि से वेणुगोपाल के सुझाव उपयोगी हैं। मूल समस्या कानून के दुरुपयोग की है, कानून समाप्त करने की नहीं है। माननीय न्यायालय ने समग्रता में सुनवाई व विचारण की बात कही है। विश्वास है कि समग्रता में विचारण का फल राष्ट्र हितैषी होगा।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:19-07-21

नागरिक, देश और राजद्रोह

शेखर गुप्ता

राजद्रोह का कानून जो औपनिवेशिक काल का अवशेष है, आजादी के 75 वर्ष बाद उसकी क्या जरूरत है? देश के मुख्य न्यायाधीश एन वी रमण ने गत गुरुवार को मोदी सरकार के महान्यायवादी से यही प्रश्न किया। यह सवाल रस्मी भी है और गहन भी। हालांकि यह पूरे प्रकरण का केंद्रीय प्रश्न नहीं है। राजद्रोह का कानून इसलिए बुरा नहीं है क्योंकि यह ब्रिटिश राज की विरासत है। हमारे अधिकांश कानून उसी युग की देन हैं। भारतीय दंड संहिता (आईपीसी) भी सन 1860 में बनी थी।

राजद्रोह के कानून के साथ दिक्कत यह है कि इसके पीछे की मानसिकता औपनिवेशिक है। किसी भी देश के लोग थोपे गए शासन को पसंद नहीं करते। यहां तक कि राष्ट्रगान गाने या राजा को सलाम करने को कहा जाए तो वे गाने का ढोंग करते हुए मन ही मन कोसते रहेंगे। ऐसे में एक कानून चाहिए जो आपकी वफादारी सुनिश्चित करे।

किसी लोकतांत्रिक देश में ऐसे कानून की जगह नहीं है। यदि आप अपनी सरकार को पसंद नहीं करते (जैसा कि भारत के लोग भी करते हैं) तो आप उसकी आलोचना कर सकते हैं, उसके खिलाफ अभियान चला सकते हैं और उसे हटाने का प्रयास करते हैं। यह बात तो आधे-अधूरे लोकतंत्र में भी सामान्य है जबकि हम तो उससे काफी बेहतर हैं।

निर्वाचित सरकार चाहे वह किसी भी दल की हो, उसे जनता से सुरक्षा के लिए ऐसा कानून क्यों चाहिए? यह दुखद सत्य है कि हमारे देश में जिन कानूनों को प्रमुख दलों का समर्थन हासिल है वे सबसे बुरे कानून हैं। यही कारण है कि बीते 74 वर्ष में 14 प्रधानमंत्रियों के शासन में भी राजद्रोह का कानून खत्म नहीं किया गया।

यही वजह है कि मेरे संपादन में किसी भी प्रकाशित सामग्री में सरकार के लिए 'शासन' शब्द का प्रयोग वर्जित है और अगर कोई अत्यधिक नाराज आलोचक इसका इस्तेमाल करता भी है तो इसे संपादित करके हटा दिया जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि संवैधानिक लोकतंत्र सरकार चुनते हैं, शासक नहीं। आप अपनी सरकार को प्यार करने या उससे नफरत करने के लिए स्वतंत्र हैं। यही कारण है कि आधुनिक समय में यह कानून अश्लील है क्योंकि इसमें सरकार अपने बचाव के लिए आलोचना को अपराध घोषित कर सकती है।

हमारा लोकतंत्र इतना परिपक्व है कि राष्ट्रहित और सरकारी हित में भेद कर सके। लोकतांत्रिक देश, तानाशाही शासन वाले देशों से मजबूत इसलिए होते हैं क्योंकि उसके नागरिक अपनी सरकार की कमियां बता सकते हैं और गलतियों को रोक सकते हैं। वे भी उतने ही देशभक्त हैं जितने कि हम, बस वे चतुर और बहादुर हैं।

यह जनता की राय है। क्या आप ऐसे आलोचकों को खामोश करने के लिए ऐसे कानून का इस्तेमाल कर सकते हैं जो आजीवन कारावास की सजा दे और उनके नाम पर एक कलंक लगा दे?

उत्तर प्रदेश सरकार ने तो पत्रकारों के खिलाफ महज इसलिए राजद्रोह के मामले बना दिए क्योंकि उन्होंने ट्वीट किया था कि पुलिस की गोलीबारी से एक किसान प्रदर्शनकारी की मौत हो गई जबकि शव परीक्षण से पता चला कि उसकी मौत संभवत: दुर्घटना से हुई थी। ध्यान रहे कि इन पत्रकारों द्वारा ट्वीट में सुधार करने के बाद भी मामला दर्ज किया गया।

राज्य की पुलिस ने इन प्राथमिकियों पर अब तक कोई कार्रवाई नहीं की है लेकिन ये मामले रिकॉर्ड में हैं और अगर भविष्य में इन पत्रकारों ने सरकार को चिढ़ाने वाला कोई कदम उठाया तो इन पर कार्रवाई शुरू कर दी जाएगी। आईपीसी की धारा 505 (समस्या पैदा करना) लगाई जा सकती थी लेकिन उसका इतना असर नहीं होता। हरियाणा में सैकड़ों प्रदर्शनकारी किसानों पर सरकारी वाहन तोडऩे के लिए राजद्रोह का मुकदमा किया गया है। खासतौर पर सिरसा में विधानसभा उपाध्यक्ष रणवीर सिंह गंगवा के वाहन पर हमले में शामिल किसानों पर। ऐसे मामलों में दंगे, शासकीय कार्य में बाधा डालने जैसी धाराएं क्यों नहीं लगाई जा सकतीं?

राजद्रोह, यूएपीए और एनएसए जैसे भयंकर कानूनों को लेकर सभी राजनीतिक दल खामोशी से मिले हुए हैं। कुछ सप्ताह पहले छत्तीसगढ़ में कांग्रेस सरकार ने एक वरिष्ठ और सेवारत आईपीएस अधिकारी एडीजीपी जीपी सिंह पर कई अन्य कानूनों के साथ राजद्रोह का मामला भी लगाया। इसकी वजह जानकर आप हैरान रह जाएंगे। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि उनके घर पर छापा मारने वाले पुलिस दल को उनके घर के पीछे कागज के फटे हुए टुकड़े मिले और उन्हें जोडऩे पर पता चला कि सरकार को अस्थिर करने की साजिश रची जा रही थी।

इसे समझने के लिए तीन उदाहरण पर्याप्त हैं। खासतौर पर इसलिए कि वे संपूर्ण राजनीतिक फलक में फैले हुए हैं। एक वक्त महाराष्ट्र की कांग्रेस सरकार ने कार्टूनिस्ट असीम त्रिवेदी पर ऐसे ही आरोप लगाए थे। या 2003 में राजस्थान में अशोक गहलोत की सरकार ने तब विहिप के नेता रहे प्रवीण तोगडिय़ा पर और अन्नाद्रमुक ने जयललिता का मजाक उड़ाने के लिए लोक गायक कोवन पर राजद्रोह का मामला दर्ज किया। और इन दिनों तो भाजपा की सरकारें राजद्रोह के मामले यातायात पुलिस के चालान की तरह लगा रही हैं।

अब मुख्य न्यायाधीश के सवाल पर वापस आते हैं। इस कानून का इस्तेमाल इतना लोकप्रिय क्यों है जबकि दोषसिद्धि का प्रतिशत अत्यंत कम है। दरअसल ऐसे मामलों में दंडित करने का विचार नहीं होता बल्कि परेशान करने की भावना

प्रमुख होती है। इसलिए क्योंकि राजद्रोह जैसी प्राथमिकी को हटाने में लंबा अरसा लगता है। यही वजह है कि अब मुख्यमंत्री कहते हैं कि बेटा ज्यादा मत बोलो नहीं तो राजद्रोह लगा दूंगा।

देश और सरकार तथा देशद्रोह और राजद्रोह एक नहीं हैं। सोशल मीडिया और ध्रुवीकरण करने वाले चैनलों ने अब हालात और बिगाड़ दिए हैं। उनमें से कुछ जानबूझकर देशद्रोह और राजद्रोह को पर्यायवाची के रूप में इस्तेमाल करते हैं।दिलचस्प बात यह है कि हिंदी एक विकसित और लोकतांत्रिक भाषा है। यहां देशद्रोह और राजद्रोह अलग-अलग शब्द हैं लेकिन पक्षपाती बहसों में इनकी अनदेखी कर दी जाती है।

ब्रिटेन में यह कानून 2009 में खत्म कर दिया। वैसे भी इसका बहुत कम इस्तेमाल हो रहा था। परंतु हम और हमारे पड़ोसी देश अभी भी यह कानून बरकरार रखे हुए हैं। रेलवे, संसदीय प्रणाली, स्वतंत्र न्यायपालिका की तरह हमें अंग्रेजों से राजद्रोह कानून भी विरासत में मिला। दुनिया में हर जगह कमजोर प्रदर्शन वाली सरकारें देश को खतरे का सहारा लेती हैं। जोया अख्तर की फिल्म गली बॉय के गाने की एक पंक्ति याद करें: दो हजार अठारह है, देश को खतरा है।

समझ सकते हैं कि सरकार को इससे इतना लगाव क्यों है। यह उन्हें देश का पर्याय बताने में मदद करता है। याद रहे कि आपातकाल में डीके बरुआ के दिए नारे इंदिरा इज इंडिया, इंडिया इज इंदिरा पर हम आज भी कितने नाराज होते हैं।

परंतु कुछ प्रगति भी हुई है जो गौरतलब है। सुनवाई के पहले दिन ही महान्यायवादी ने खुलकर इस कानून का बचाव नहीं किया। उन्होंने यह जरूर कहा कि इस कानून को समाप्त नहीं किया जाना चाहिए लेकिन सुझाव दिया कि इसका दुरुपयोग रोकने के दिशानिर्देश जारी किए जाने चाहिए। हालांकि तथ्य यही है कि सर्वोच्च न्यायालय 1962 के केदार नाथ सिंह के मामले और 1995 के बलवंत सिंह मामले में दोबार इसकी समीक्षा कर चुका है। इसके बावजूद उत्तर प्रदेश सरकार पत्रकारों को ट्वीट करने पर इस कानून का प्रयोग कर रही है। इस कानून को समाप्त किया जाना चाहिए।

मुझे 30 वर्ष पहले पेशावर से 50 किलोमीटर दूर खैबर दर्रे के रास्ते पर हुई एक बातचीत याद आती है। उस समय भारतीय पत्रकारों को पाकिस्तान के जनजातीय इलाकों में जाने का परमिट मिल जाता था।

एक पख्तून दुकानदार जो खान अब्दुल गफ्फार खान का अनुयायी होने के नाते खुद को कांग्रेसी बता रहा था वह मुझे और छायाकार प्रशांत पंजियार से कह रहा था, 'यह क्या बात हुई, मुंह खोलो तो बोलते हैं, पाकिस्तान टूट जाएगा, इस्लाम टूट जाएगा? क्या शीशे का बना है मेरा पाकिस्तान, मेरा इस्लाम?' अगली सुनवाई में देश के मुख्य न्यायाधीश को महान्यायवादी से ऐसा ही सवाल करना चाहिए।

Date:19-07-21

फंसा कर्ज निपटाने में 'दोस्ताना पूंजीवाद का खेल' तो नहीं!

तमाल बंद्योपाध्याय, (लेखक बिज़नेस स्टैंडर्ड के सलाहकार संपादक और जन स्मॉल फाइनैंस बैंक के वरिष्ठ परामर्शदाता हैं)

जून के अंतिम सप्ताह में भारतीय स्टेट बैंक के एक कंसोर्टियम को कर्जदार विजय माल्या की एक कंपनी के शेयरों की बिक्री से 5,824.5 करोड़ रुपये मिले। माल्या के स्वामित्व वाली किंगफिशर एयरलाइंस पर विभिन्न बैंकों के करीब 9,000 करोड़ रुपये बकाया थे। इस तरह बैंकों को एयरलाइन पर बकाया कर्ज की करीब 70 फीसदी राशि वसूल हो गई। अन्य जब्त परिसंपत्तियों की बिक्री से उन्हें और रकम मिलेगी।

कुछ नए खलनायक भी सामने आए हैं। वीडियोकॉन समूह पर कुल 64,838.63 करोड़ रुपये बकाया थे लेकिन कर्जदाताओं को सिर्फ 2,962.02 करोड़ रुपये ही मिल पाएंगे। अनिल अग्रवाल की अगुआई वाले वेदांत समूह का वीडियोकॉन समूह की कंपनियों पर नियंत्रण हो जाएगा। शिवा इंडस्ट्रीज ऐंड होल्डिंग्स लिमिटेड पर बकाया 4,863 करोड़ रुपये के बरक्स सिर्फ 318 करोड़ रुपये का एकमुश्त समाधान प्रस्ताव मिला है।

एक प्रमुख उद्योगपति एवं एक मजदूर संगठन ने अपने ट्वीट संदेशों में इसे 'दोस्ताना पूंजीपतियों का नया खेल' बताया है। यह नया खेल असल में क्या है? मुझे लगता है कि ये ट्वीट कंपनियों के बदमाश प्रवर्तकों एवं बैंकरों और प्रवर्तकों एवं चूककर्ता कंपनियों की बोली लगाने वालों के बीच की मिलीभगत की ओर इशारा कर रहे हैं। यहां पर मेरा आकलन सामान्य है, कोई जरूरी नहीं है कि इन दोनों मामलों में भी ऐसा ही हुआ हो।

किंगफिशर से हुई वसूली की तुलना वीडियोकॉन मामले से नहीं की जा सकती है। माल्या ने अपनी एयरलाइन के लिए कर्ज लेते समय कॉर्पोरेट गारंटी के साथ निजी गारंटी भी दी थी। इसके दम पर बैंक उनके समूह की कंपनियों की परिसंपत्तियां जब्त करने के साथ उन्हें बेच भी सकते हैं। जांच एजेंसियां भी बैंकों की मदद के लिए आगे आई हैं। ऐसी गारंटी के अभाव में बैंकिंग प्रणाली के लिए फंसे कर्ज की बेहतर वसूली कर पाना मुमकिन नहीं है।

वसूली की रकम हमेशा ही चूककर्ता कंपनी के प्रोफाइल एवं उसके कारोबार पर निर्भर करेगी। सेवा क्षेत्र, इंजीनियरिंग, खरीद एवं निर्माण क्षेत्रों की कंपनियों के अधिक खरीदार नहीं होंगे। दरअसल इन कंपनियों के पास अधिक परिसंपत्तियां नहीं होती हैं। लेकिन कीमत वाली कंपनियों से अधिक वसूली होगी और बढ़-चढ़कर बोलियां लगेंगी। मसलन, गैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनी डीएचएफएल के कर्जदाताओं को पीरामल ग्रुप से अच्छी-खासी रकम मिली थी।

एस्सार स्टील लिमिटेड की परिसंपत्तियों बिक्री से कर्जदाताओं को 41,018 करोड़ रुपये मिले जो कुल बकाया का करीब 83 फीसदी था। इसी तरह भूषण स्टील लिमिटेड पर बकाया 56,022 करोड़ रुपये में से बैंकों को 35,571 करोड़ रुपये (63.5 फीसदी) वसूल हो गए।

दिवालिया कानून के तहत पहला मामला पुणे की कंपनी इनोवेंटिव इंडस्ट्रीज के खिलाफ दायर किया गया था लेकिन निपटाया गया पहला मामला सिनर्जीज डूरे ऑटोमोटिव का था। कर्जदाता संस्थानों को 972 करोड़ रुपये के बकाये में से सिर्फ 54 करोड़ रुपये (6 फीसदी) ही मिल पाए थे।

अगस्त 2017 से लेकर मार्च 2021 के दौरान 4,376 कंपनियों के खिलाफ दिवालिया प्रक्रिया शुरू की गईं जिनमें से 2,653 मामले बंद हो चुके हैं। इनमें से सिर्फ 348 मामलों में ही निपटारा हो पाया है। मार्च 2020 तक कर्जदाताओं को औसतन 45.96 फीसदी रकम की वसूली हुई थी लेकिन मार्च 2021 आने तक यह अनुपात घटकर 39 फीसदी ही रह गया।

दूसरे देशों की तुलना में यह स्थिति कैसी है? जापान में दिवालिया मामले के निपटान में छह महीने लगते हैं और वसूली दर करीब 93 फीसदी है। ब्रिटेन में वसूली दर 88.6 फीसदी है और साल भर में निपटारा हो जाता है। वहीं चार दशक पहले दिवालिया कानून लागू कर चुके अमेरिका में कर्ज समाधान में 18 महीने लगते हैं और 80.4 फीसदी वसूली होती है।

विश्व बैंक के मुताबिक, भारत में एक मामला निपटाने में औसतन 4.3 साल लगते हैं और कर्ज वसूली 25.7 फीसदी ही हो पाती है। इस तरह वित्तीय संस्थानों को करीब 74 फीसदी का हेयरकट उठाना पड़ता है। नया दिवालिया कानून बेहतर होने के साथ वसूली भी सुधरी है लेकिन कर्जदाताओं को चूककर्ताओं के खिलाफ तेजी से कदम उठाने चाहिए। लॉजिस्टिक मसलों के अलावा बैंक भी चूककर्ताओं को काफी लंबा वक्त देते हैं जिससे कर्जदार कंपनी का मूल्य घट जाता है।

भारत का दिवालिया कानून अधिकांश विकसित देशों की तुलना में अधिक आक्रामक है लेकिन इसमें परिसंपत्तियों के संरक्षण की गुंजाइश कम है। ऐसा न होने से अधूरी परियोजनाओं की कीमत तेजी से कम हो जाती है। आदर्श रूप में कर्जदाताओं को नया निवेश कर इन परियोजनाओं को पहले पूरा कराना चाहिए ताकि ऊंची बोली लग सके। लेकिन जांच एजेंसियों के डर से बैंक इन कंपनियों को नए कर्ज देने से परहेज करती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि कर्ज अदायगी में चूक कर रही कंपनी कबाड़ के भाव पर बेच दी जाती है।

नए कानून की सबसे बड़ी उपलब्धि प्रवर्तकों की भाव-भंगिमा में आया बदलाव है। उन्हें अपना कारोबारी साम्राज्य गंवाने का भय है। बैंकर भी दिवालिया कानून का डर दिखाकर प्रवर्तकों को बातचीत के लिए मजबूर करने लगे हैं।

लेकिन संदेह तब होता है जब ऐसे मामलों को बोलीकर्ता या प्रवर्तक द्वारा बहुत कम राशि पर ही निपटा दिया जाता है, चाहे वह दिवालिया प्रक्रिया के भीतर हो या बाहर। मसलन, वीडियोकॉन समूह की कंपनियों के लिए वेदांत समूह की कंपनी ट्विन स्टार टेक्नोलॉजीज ने 2,962.02 करोड़ रुपये की बोली लगाई। क्या तरलता का विकल्प अपनाना बेहतर नहीं होता, चाहे इसमें लंबा वक्त ही लगे। कम-से-कम दोस्ताना पूंजीवाद के हाथों में खेलने और गड़बड़ी के संदेह तो नहीं पैदा होते।

जनसत्ता

Date:19-07-21

संकट में बच्चे

संपादकीय

पिछले साल दुनिया में दो करोड़ तीस लाख बच्चों को डीटीपी का टीका नहीं लग पाना चिंता की बात है। छोटे बच्चों को डिप्थीरिया, टिटनेस और पर्टुसिस (काली खांसी) से बचाने के

लिए ये टीके जीवन रक्षक हैं। डीटीपी टीकाकरण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना पोलियो, चेचक जैसी बीमारियों से बचाने वाले टीके हैं। दुनिया में आबादी का बड़ा हिस्सा खासतौर से बच्चे पहले ही कुपोषण से जूझ रहे हैं। ऐसे में अगर बच्चे को जीवन रक्षक टीके नहीं लग पाएंगे तो बच्चे कैसे स्वस्थ कैसे जीएंगे? विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) और यूनिसेफ ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि डीटीपी टीके से वंचित बच्चों को भविष्य में किन खतरों का सामना करना पड़ सकता है। यह रिपोर्ट बता रही है कि दुनिया भर में पिछले साल एक करोड़ सत्तर लाख बच्चों को तो किसी भी टीके की एक खुराक भी नहीं लग पाई। जबकि सवा दो करोड़ से ज्यादा बच्चे किसी न किसी तरह के जीवनरक्षक टीके से वंचित रह गए। अब खतरा यह है कि कहीं ये बच्चे पोलियो, खसरा जैसी बीमारियों की चपेट में न आ जाएं।

गौरतलब है कि डेढ़ साल में महामारी ने दुनिया को हिला दिया है। अभी भी इससे मुक्ति के आसार नहीं हैं। ऐसे में सभी देशों का जोर फिलहाल महामारी पर ही है। कई महीनों तक तो अस्पतालों में दूसरी गंभीर बीमारियों के इलाज भी नहीं हो पा रहे थे। ऐसे में बच्चों के लिए दूसरे जरूरी टीकों का अभियान बुरी तरह से प्रभावित होना ही था। डबल्यूएचओ की रिपोर्ट बताती है कि महामारी से पहले विश्व में डीपीटी, खसरा और पोलियो के टीकाकरण की दर छियासी फीसद थी, जबकि मानक पनचानवे फीसद का है। जाहिर है टीकाकरण का यह अभियान पहले भी कोई तेज नहीं था। फिर कोरोना में तो एकदम थम गया। हैरानी की बात है कि दुनिया में 2019 में पैंतीस लाख बच्चों को डीटीपी टीके की पहली खुराक भी नहीं लगी थी। तीस लाख बच्चे खसरे के टीके की पहली खुराक से वंचित रह गए थे। जिन देशों में बच्चों को ऐसी स्थिति भुगतनी पड़ी उनमें भारत, पाकिस्तान, फिलीपींस और मैक्सिको भी हैं।

दरअसल किसी भी देश में टीकाकरण जैसे अभियान तभी सफल हो पाते हैं जब उसके पास पहले ही से स्वास्थ्य सेवाओं का मजबूत ढांचा हो। भारत जैसे देश में स्वास्थ्य सेवाएं कितनी बदहाल हैं, यह महामारी के दौरान उजागर हो चुका है। देश भर में प्राथमिक चिकित्सा केंद्र और सामुदायिक चिकित्सा केंद्रों की हालत किसी से छिपी नहीं है। ऐसे में बच्चों के जरूरी टीकाकरण की उपेक्षा होनी ही थी। यह अपने में कम गंभीर बात नहीं है कि डीटीपी की पहली खुराक के मामले में दुनिया में भारत की स्थिति सबसे ज्यादा खराब है। पिछले साल भारत में तीस लाख से ज्यादा बच्चों को इस टीके की पहली खुराक नहीं मिली। 2019 में भी चौदह लाख बच्चे इस टीके वंचित रह गए थे। इसलिए यह सवाल उठना लाजिमी है कि 2019 में जब कोरोना नहीं था तब चौदह लाख बच्चों को डीटीपी का टीका क्यों नहीं लग पाया। दरअसल यह हमारी बीमार स्वास्थ्य व्यवस्था का सबूत है। टीकाकरण अभियान सुसंगत और पेशेवर तरीके से बनाई गई योजना से ही सफल हो पाते हैं। और इस वक्त भी कोरोना के टीकाकरण में भारत किस हालत में है, इसकी खबरें आए दिन हम पढ़ ही रहे हैं। सारा दोष मौजूदा महामारी पर मढ़ने से काम नहीं चलेगा। इसके लिए स्वास्थ्य व्यवस्था पर चौतरफा नजर की जरूरत है।

Date:19-07-21

खतरा बनते हिमनद

वेंकटेश दत्ता

हाल के वर्षों के आंकड़े देखें तो पता चलता है कि भारत में अचानक बाढ़ की घटनाएं बढ़ रही हैं। हिमाचल प्रदेश में पिछले हफ्ते अचानक आई बाढ़ ने भविष्य के उन खतरों के बारे में फिर चेता दिया है जो आने वाले वर्षों में बादल फटने, हिमस्खलन, झीलों के फटने और जमीन धंसने जैसी पर्यावरणीय घटनाओं से हिमालयी राज्यों को परेशान करने वाले हैं। हमने 2013 में उत्तराखंड में देख चुके हैं कि प्रकृति अगर अपनी पर आ जाए तो किस तरह से बड़ी आपदाएं तबाही मचा सकती हैं। लेकिन क्या ऐसी प्राकृतिक आपदाओं की आवृत्ति और क्षति को कम करना संभव है? हालांकि पूरी तरह से तो प्राकृतिक घटनाओं को रोक पाना संभव नहीं है, पर मानव द्वारा ऐसी विनाशकारी घटनाओं के खतरों को कम करने के लिए कुछ उपाय तो किए ही जा सकते हैं।

पिछले साल उत्तराखंड के चमोली जिले में हिमनदों का फटना पारिस्थितिकीय असंतुलन का बड़ा उदाहरण है। ऐसी घटनाएं मानवीय गतिविधियों के कारण ज्यादा हो रही हैं। हिमालय पर्वत श्रृंखला एक अस्थिर श्रृंखला है। चट्टानों के समायोजन में थोड़ा-सा भी परिवर्तन विनाशकारी भूस्खलन का कारण बन सकता है। इन कारकों के बावजूद संवेदनशील हिमालयी पट्टी में बार-बार विस्फोट, पत्थर उत्खनन, निर्माण, सुरंगों की खुदाई और बांधों का निर्माण जैसी गतिविधियां बदस्तूर जारी हैं। उत्तराखंड के चमोली जिले में इस साल सात फरवरी को अचानक आई बाढ़ में सत्तर सा ज्यादा लोगों की मौत हो गई थी और कम से कम दो सौ लोग लापता हो गए थे। बड़े पैमाने पर बर्फ और चट्टानें ऊपर से बहते हुए कई किलोमीटर नीचे चले आए थे। इस बाढ़ ने ऋषिगंगा बिजली संयंत्र और पांच सौ बीस मेगावाट की तपोवन-विष्णुगढ़ पनबिजली परियोजना को तबाह कर डाला था। दरअसल अनियोजित विकास के कारण हमने हिमालय जैसे संवेदनशील इलाकों में कई प्राकृतिक नालों और नदियों पर बड़े पैमाने पर निर्माण कर लिए हैं। इससे नदियों का रास्ता रुकता गया और उनके प्रवाह पर असर पड़ने लगा। हाल में हिमाचल प्रदेश के धर्मशाला में यही हुआ। भारी बारिश के कारण कांगड़ा जिले के ऊपरी धर्मशाला में बाढ़ आ गई। अचानक आई इस बाढ़ में खड़ी कारें बहने लगी और कई मकान ढह गए।

दरअसल भारत जलवायु परिवर्तन की मार झेल रहा है। औसत वैश्विक तापमान में वृद्धि के साथ-साथ बारिश में भी बदलाव दिख रहा है। पिछले कुछ सालों में ऐसी चिंताजनक प्रवृत्ति विकसित हो गई है जिसमें विस्तारित अवधि के लिए बारिश नहीं होती और फिर अचानक से अत्यधिक बारिश हो जाती है। कई जगहों पर बादल फट रहे हैं। बिजली गिरने की घटनाएं बढ़ रही हैं। अचानक बारिश से बाढ़ और भूस्खलन जैसी आपदाएं भी तेजी से बढ़ी हैं। इससे जानमाल का नुकसान तो होता ही है, कृषि भूमि को काफी नुकसान पहुंचता है। उपग्रह से प्राप्त चित्रों से पता चलता है कि हिमनद झीलों के निर्माण में वृद्धि के साथ-साथ अचानक बाढ़ का खतरा भी बढ़ रहा है। हिमाचल प्रदेश में बारिश ने जो कहर बरपाया, वह प्रकृति के नाराज होने का प्रमाण है। जलवायु परिवर्तन आकलन रिपोर्ट के अनुसार वैश्विक तापमान में वृद्धि से इक्कीसवीं सदी के अंत तक यानी 2071 से 2100 के बीच भारत में बाढ़ की घटनाओं में भयानक रूप से तेजी आएगी। हिमालयी पट्टी में 2.6 डिग्री सेल्सियस तक तापमान में वृद्धि का अनुमान है। 2030 तक गर्मी की तीव्रता में दो से बारह प्रतिशत की वृद्धि होने की संभावना है। इससे अचानक बाढ़ की घटनाएं बढ़ेंगी, बाढ़ से जगह-जगह जमीन धंसने का भी खतरा बढ़ेगा। कुल मिला कर इन सारी प्राकृतिक आपदाओं का असर कृषि पर पड़ता है, जिससे खाद्य सुरक्षा को खतरा पैदा होता है।

ध्रुवीय क्षेत्रों के बाहर ग्लेशियर ताजे पानी का सबसे बड़ा स्रोत होते हैं। हिमालयी क्षेत्र में हिमपात और हिमनद पूरे उपमहाद्वीप में विभिन्न नदियों के लिए पानी के बड़े स्रोत हैं। ये स्रोत ब्रह्मपुत्र, सिंधु और गंगा जैसी नदियों में पानी के सतत प्रवाह को बनाए रखते हैं। एक अरब से अधिक लोगों का जीवन इन नदियों पर ही निर्भर है। वैश्विक तापमान में वृद्धि के साथ, हिमालय के ग्लेशियर द्रव्यमान और सतह क्षेत्र दोनों में लगातार कम हो रहे हैं। हिमनदों के सिकुड़ने का पता उस छोटे हिमयुग के समय से भी लगाया जा सकता है जो लगभग सात सौ साल पहले शुरू हुआ था। तब से दुनिया वैश्विक तापमान में अभूतपूर्व वृद्धि देख रही है। ग्रीन हाउस गैसों के बढ़ते स्तर से बीसवीं शताब्दी में तापमान में वृद्धि और तेजी से हुई। 1980 के दशक के बाद से तापमान ग्राफ तेजी से बढ़ा। अध्ययन बताते हैं कि 1850 से 2070 तक वैश्विक तापमान में दो डिग्री सेल्सियस की वृद्धि से बड़े और मध्यम आकार के पैंतालीस प्रतिशत हिमनद गायब हो जाएंगे। यह भी अनुमान है कि वैश्विक तापमान में दो डिग्री सेल्सियस की वृद्धि के साथ लगभग सत्तर प्रतिशत छोटे हिमनद भी पिघल जाएंगे। घटते हिमनदों के कारण हिमालय क्षेत्र में झीलें बनती जा रही हैं। 2005 में अकेले उत्तराखंड में लगभग एक सौ सत्ताईस ऐसी हिमनद झीलों को सूचीबद्ध किया गया था। अब इनकी संख्या बढ़ कर चार सौ हो गई है। यानी डेढ़ दशक में ढाई गुना हिमनद झीलें बन गईं। ऊंचाई पर बनने वाली ये झीलें हर वक्त बड़ा खतरा लिए होती हैं, क्योंकि झील के फटने की स्थिति में अचानक बाढ़ आने से कोई नहीं रोक सकता।

हिमनद झीलों से उत्पन्न जोखिमों का समुचित प्रबंधन करने के लिए सबसे पहले इनके निर्माण के बारे में नियमित और सक्रिय रूप से अध्ययन होने चाहिए। वैज्ञानिकों को इन पर सतत निगरानी रखने की जरूरत है। कुछ हिमनदों पर अध्ययन पहले से चल रहा है। लेकिन भारत में हिमनदों का अध्ययन अभी सुव्यवस्थित रूप नहीं ले पाया है। जरूरत इस बात की है कि भारत में हिमनदों का एक समेकित मूल्यांकन किया जाए, जिससे उनमें हर साल होने वाले बदलावों की निगरानी की जा सके। इसके लिए संबंधित राज्य सरकारों को अग्रणी भूमिका निभानी होगी।

यदि हिमनदों को नियमित जांच के दायरे में रखा जाता है, तो इससे उन झीलों को पहचानना आसान हो जाएगा जिनके जल्द ही खतरनाक रूप ले लेने की संभावना है। ऐसे कई उदाहरण हैं जब भू-तकनीक और संरचनात्मक उपायों को लागू कर हिमनद झीलों से होने वाले खतरों को कम करने में कामयाबी मिली है। ऐसी झीलों से धीरे-धीरे पानी की निकासी के लिए चैनल बनाए जाते हैं। इससे झीलों पर दबाव कम होने लगता है और उनके फटने का खतरा कम हो जाता है। इतना ही नहीं, इस तरह के उपाय अचानक बाढ़ में बहने वाले पानी की मात्रा को भी कम कर देते हैं। इसके अलावा हिमनद झीलों पर खतरे की सूचना देने वाली प्रणाली भी लगाई जा सकती है जो पानी के अचानक और ज्यादा बहाव की स्थिति में मानव बस्तियों को तुरंत सचेत कर दें। किसी भी महत्त्वपूर्ण परियोजना को शुरू करने से पहले हर पर्यावरणीय आकलन में हिमनदों को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, बांध निर्माण से पहले पर्यावरणीय प्रभाव आकलन रिपोर्ट में उस क्षेत्र के हिमनदों के लिए बांध के संभावित खतरों को शामिल करना चाहिए। आकलन रिपोर्ट में पूरे जलग्रहण क्षेत्र पर ध्यान देना चाहिए। यदि एहतियाती उपायों को गंभीरता से नहीं लिया जाता है और बेतरतीब विकास मॉडल को चुनौती नहीं दी जाती हैं, तो वह समय दूर नहीं है जब हमारा जीवन उन हॉलीवुड फिल्मों के दृश्य को प्रतिबिंबित करेगा, जिनमें अंत में पृथ्वी को खत्म होते हुए दिखाया जाता है।